लड़कियाँ

मृणाल पाण्डे

जिस दिन हम लोग माँ के साथ नानी के घर रवाना हुए, बाबू ने एक सुराही फोड़ी थी, पता नहीं जान बूझकर या अनजाने में। पचाक! तमाम पानी-ही-पानी कमरे में फैल गया था। माँ ने धोती ऊपर कर पैर रखते हुए, दूसरे कमरे से कान लगाए सुन रही सरू की माँ से कहा था कि ज़रा पोंछा ले आए, तमाम पानी-ही-पानी हो गया है और उनके पीछे पैर-वैर रपटकर किसी की हड्डी-पसली चटक गई तो एक और मुसीबत।

माँ को वैसे भी हर चीज़ के अन्त में मुसीबत ही नज़र आती थी। हम लोग घर में होते तो मुसीबत, स्कूल में होते तो मुसीबत, बीमार होते तो मुसीबत, भले-चंगे उछलते-कूदते होते तो मुसीबत। पोंछा लगाती सरू की माँ ने सिर तनिक टेढ़ा करके माँ से पूछा था कि "इस फेरे तो तीनेक महीने रहोगी ही रहोगी, न!" माँ ने, जैसे कि इन दिनों उसकी आदत हो गई थी, जांघों पर हाथ रखकर वज़न तौला और काँख कर बैठते हुए कहा कि "हाँ, उससे पहले वे लोग आने देंगे थोड़े ही ना। जा बाहर खेल।" यह अन्तिम आदेश मेरे लिए था, जो हमेशा की तरह हर गलत मौके पर हैरतअंगेज़ ढंग से किसी कोने में हाज़िर पाई जाती थी।

कमरे से टूटी सुराही का एक टुकड़ा चूसने के लिए सफाई से उड़ाकर ले जाते मैंने सुना कि माँ, सरू की माँ या जाले लगी छत से कह रही थी, "इस बार लड़का हो जाता तो उन्हें छुट्टी होती, बार-बार की मुसीबत..." सरू की माँ ने हमेशा की तरह सिर हिला-हिलाकर ज़रूर कहा होगा, "क्यों नहीं,

क्यों नहीं।"

ट्रेन में मैंने लड़-झगड़कर खिड़की के पास की सीट हथिया ली थी और फिर दूसरों को जीभ बिराई- ईऽऽ। माँ की नज़र अपनी ओर घूमती पाकर मैंने हिल-हिलकर जपा, "इ से इमली, ई से ईख!" परन्तु माँ का ध्यान इस वक्त मुझ पर नहीं टिका। उस पर इस वक्त कई मुसीबतें थीं - बिखरा जाता सामान, डगमगाती सुराही, थकान, हम तीनों। एक स्टेशन पर खूब मिर्ची के समोसे खरीदे। तभी एक औरत ने बगल की खिड़की से अपने बच्चे को सू-सू कराई। मारे घिन के मुझसे समोसा नहीं खाया गया, मैंने माँ को दिया। उबले आलू का एक टुकड़ा सीट पर पड़ा था। उसे मसलकर जू-जू कीड़ा बनाकर कुछ देर छोटी बहन को डराया। वह चीखी। माँ ने चिकोटी काटी, मैं रोयी। बड़ी बहन ने तब उकताकर कहा, "क्या मुसीबत है!" बड़ी बहन ज़्यादा प्यार करती है। सिर्फ वही। बाकी सब गंदे हैं।

स्टेशन पर मामा लेने आए। मैं मामी की बगल में बैठी। मामी पान चबाती थीं तो उनके कान की लवों पर माणिक के बुंदे ऊपर-नीचे होते थे। ड्राइवर जितनी बार जीप का हॉर्न बजाता, हम तीनों बहनें मिलकर चीखतीं- पोंऽऽऽ। ड्राइवर हँसा। घर पहुँचकर उसने मुझे और छोटी बहन को गोदी में लेकर जीप से उतारा। उतारने में सुराही फिर लुढ़क गई, पानी फैल गया, मुझे बाबू की याद आई और मैंने छोटी बहन की चप्पल को ऐसे दबाया कि वह गिरते-गिरते बची। "मुसीबत की जड़!" माँ ने दाँत भींचकर ऐसे कहा कि कोई और न सुने और मुझे हाथ से पकड़कर औरों को ऐसे दिखाया, जैसे मुझे सम्भाला हो, पर सचमुच में इतनी ज़ोर-से भींचा कि कंधा दुख गया।

नानी के घर आने में हमेशा यही होता है। बाबू तो साथ आते नहीं, और यहाँ आते ही माँ भी मौसियों, मामियों, नानी और पुरानी नौकरानियों के बीच एकदम ही गुड्डुप। दिन में उसके पास भी जाना चाहें तो कोई-न-कोई टोक देता है, "यहाँ तो बेचारी को आराम करने दो।" माँ भी कैसा बेचारी वाला चेहरा बना लेती है, जैसे वहाँ हम लोग उसे काट खाते हों! धत्! नानी के घर में घुसने से चिढ़ होने लगी, मैं झाड़ियों के पास जान-बूझकर ठिठकी। झबरा कुत्ता आया, उसने मुझे सूंघा, तभी भीतर से किसी ने मेरा नाम लेकर कहा, "वह फिर कहाँ रह गई!" मैं और कुत्ता साथ-साथ घर में घुसे।

नानी, मामा के लड़के को गोद में लिए बैठी थीं। उन्होंने कुत्ते को दुत्कारा। कुत्ता पूँछ नीची कर निकल गया। मुझसे कहा गया कि "पैर छुओ, ऐसे नहीं, ऐऽ सेऽ। अरे, लड़की का जनम है और ज़िन्दगी भर झुकना है तो सीऽ ख ही लो।" नानी ने मेरी पीठ पर

हाथ फेरकर कहा कि "उहूँ, ये नहीं बढ़ी लम्बाई में तनिक भी। आठ की कौन कहेगा इसे?" मैंने मामा के लड़के को चिकोटी भर ली। वह बेवकूफ-सा तब भी मेरे पीछे घूमता रहा। गोरा-गोरा, प्यारा-सा। वह उम्र के लिहाज़ से लम्बा जा रहा था। पाँच का था, सात का लगता। "कहानी सुनाएगी रात को?" उसने मुझसे पूछा। "नहीं," मैंने कहा और झूठ-मूठ अखबार पढ़ने लगी।

"क्या मुसीबत है!" माँ कह रही थी और पड़ोसन नानी कह रही थी कि "लाली की माँ, इस बार तो लाली के लड़का ही होगा, चेहरा देखो, कैसा पीला पड़ गया है लाली का, लड़कियों की बेर कैसी सुरख गुलाब लगती थी।" "क्याऽ पता, इस बार भी।" माँ ने कहा, और बेचारी वाला चेहरा बनाकर नाखून खोंटने लगीं। मुझे बाबू की बहुत याद आई। बाबू से कितनी साफ खुशबू आती थी ना! उनकी गोद गुलगुली थी। माँ इधर ज़्यादा देर गोद में नहीं लेटने देती, कहती है, "उफ्, हाँटे-माँटे एक कर डाले, साड़ी मुसड़ दी सो अलग, अब उठ भी, ढेरों काम पड़ा है मेरा। ऊपर से ये मुसीबत औरऽऽर। उठ।" नानी ऊपर को हाथ जोड़कर कहती है, "हे देवी, मेरी लाज रखना, इस बार ये मायके से बेटा लेकर जाए।" फिर वे आँखें पोछती हैं।

***

मैंने कनखियों से बहनों को देखा,

वे सो गई थीं। जहाँ हम सोए थे, वहाँ मेरे तखत के ठीक ऊपर एक बड़ी दीवाल घड़ी टिक-टिक करती थी। सब बत्तियाँ बन्द हैं, कमरे में बस चाँद का उजाला है। तुलसा दाई माँ के तलवों में तेल ठोंक रही है, और कह रही है, "इस बार लड़का होगा तो स्टेनलेस स्टील की ज़री वाली साड़ी लूँगी, हाँऽ।"

चाँदनी में माँ का चेहरा नहीं दीखता, बस ढोल जैसा पेट दीखता है। माँ की साड़ी खिसक गई है। तुलसा कोई दुखती रग छूती है तो माँ हल्के-से गुंगुआती है। घर लौटती गायों की तरह। "अबकी लड़का हो जाता, तो

छुट्टी होती।" वह फिर तुलसा से भी कहती है। और यह भी कहती है कि "अब तू जा, तेरे बच्चे बैठे होंगे। तेल की कटोरी चारपाई के खूब नीचे खिसका दीजो, वरना सुबह बच्चों के पैर से ठोकर लगी तो तमाम तेल-ही-तेल... खराब बात।" माँ आधी छोड़ देती है, तो देर तक कमरे में बात तैरती रहती है। घड़ी टिक-टिक की तरह। अच्छी बात हमेशा पूरी कहते हैं बड़े लोग, खराब बात आधी ही, ऐसा क्यों? 'क्याऽ औरत का भाग्य...' चुप्पी। 'अरे तीन लड़कियाँ...' चुप्पी। बाहर एक तारा खूब तेज़ चमक रहा है। क्या ध्रुव तारा होगा! बाबू कहते हैं, मन लगाकर पढ़ोगी तो तुम भी, जो चाहो बन सकती हो, ध्रुव तारे की तरह। "लड़का तो नहीं बन सकती पर?" मैं ढिठाई से कहती हूँ, तो बाबू पता नहीं क्यों धमका देते हैं कि "बड़ों के मुँह लगती हो।" बड़े लोगों का कुछ भी समझ में नहीं आता। बड़ी बहन कहती है, "बड़े लोगों का कभी भरोसा नहीं करना चाहिए, अपनी बात सब खोद-खोदकर पूछ लेते हैं, खुद कुछ नहीं बताते।"

कोई हमें कुछ नहीं बताता। यहाँ, खासकर रात को जब हम सब सो जाते हैं तब बड़ों की दुनिया खुलती है, जैसे बन्द पिटारा। मैं जागकर सुनना चाहती हूँ पर हर बार बीच में मुझे जाने क्यों नींद आ जाती है। ये आवाज़ किसकी है? खाँसी दबाते कौन रो रहा है? छोटी मौसी? "कुत्ते जित्ती इज़्ज़त मेरी नहीं उस घर में।" वह माँ के बगल में कहीं कह रही है। कहाँ? मैं पूछना चाहती हूँ। माँ कह रही है कि जी तो उन सबका कलपता है पर उसे निभाना तो है ही। मेरी आँखें बन्द होती हैं।

"निभाना क्या होता है माँ!" मैं सुबह पूछती हूँ। सब लोग नाश्ता कर रहे हैं। मैं कहती हूँ कि "वो वाला निभाना जो छोटी मौसी को चाहिए।" मुझे एक तमाचा पड़ता है, फिर दूसरा फिर मामी बचाती हैं, "छोड़िए भी बच्चा है।" "बच्चा-वच्चा नहीं, पुरखिन है," माँ का पेट गुस्से से थिरकता है, "चोरी से बड़ों की बातें सुनती है! जाने क्या होगा इसका!"

"तू भी..." बाहर हौदी के पास बैठी बड़ी बहन बीने फूलों को औंधाती कहती है, "सौ बार कहा नहीं कि चबर-चबर सवाल मत पूछ। पीट-पीट के मार डालेंगे वो लोग तुझे एक दिन, अगर बहुत पूछेगी तो।" मैं रोते-रोते कहती हूँ, "खूब पूछूँगी, खूब पूछूँगी, खूब पूछूँगी।" "तो जा के मर फिर।" बड़ी बहन कहती है और समझदारी से नानी के गोपालजी की माला गूँथने लगती है। "ये मेरी लाखों की लक्ष्मी बेटी है," नानी उससे कहती है, मुझे सुनाकर अक्सर।

***

दोपहर में मैं छोटे बच्चों को खौफनाक डायनों और भूतों की कहानियाँ सुनाती हूँ जो नीचे वाले अखरोट के पेड़ में रहते हैं, और कहती हूँ कि चाँदनी रात में ठीक बारह बजे उठकर वहाँ जाओ तो वे बच्चों के खून से नहाते दिखाई देंगे। नाक से बोलते हैं वो, नाक से! पहले-पहल तो उनकी बोली भी समझ नहीं आती। बच्चे मेरे पीछे-पीछे घर भर में घूमते हैं। जैसे जादूगर के पीछे चूहे। दोपहर में बड़ी मामी और माँ हमें खट्टी-मीठी गोलियाँ खाने को पैसे देकर भगा देती हैं। उनका कमरा अँधेरा है, काँचों पर हरा कागज़ चिपका है। मामी, माँ, मौसियाँ, नानी – सारे कमरे में औरतें ही औरतें पड़ी हैं। हर घड़ी कुछ-न-कुछ खाती हुई। उनकी मुगदर जैसी बाँह हैं, मोटी-मोटी अधनंगी टाँगे, धारीदार पेट। हमें क्यों कहा जाता है, पैर फैलाकर मत बैठो

टाँगें दिखती हैं, हैं?

"तुम सब गायों जैसी लगती हो," मैं औरतों से कहती हूँ, पर शायद किसी ने सुना नहीं, फर्श पर तकिया डाले पड़ी छोटी मौसी एक खट्टी गोली हमसे लेकर चूसती हैं और कहती हैं, "हद्द हैं जीजाजी भी!" अचानक कमरे में ठहाके छूट जाते हैं। कौन? क्यों? कैसे? मैं चारों तरफ उत्तर को ताकती हूँ पर यहाँ हमारी किसी को परवाह नहीं, वो सब फिर अपनी बोली बोल रहे हैं। बाहर जाकर मैं खूब ज़ोर से बाहर का दरवाज़ा पीटती हूँ। अब शायद माँ आकर कहेगी, "एक मुसीबत और।" पर कोई भीतर से बाहर मेरी खबर लेने नहीं आता।

"हटो," सिर के इशारे से हरी की माँ कहती है, वह ट्रे में ढेरों चाय के गिलास लिए कमरे में जा रही है, "हटो, ये तुम्हारे लिए नहीं हैं, बड़ों के लिए हैं, हटो।" हरी की माँ की नाक मेंढक जैसी है, और उसकी भौंहें नाक के ऊपर जुड़ी हुई हैं। वह हँसती है तो मरे हुए चमगादड़ की तरह उसके गाल लटक जाते हैं। "हटो ना," वह फिर कहती है। "नहीं हटूँगी," मैं अड़ जाती हूँ, "पहले कहो लड़कियाँ अच्छी होती हैं।" "हाँ-हाँ, कह दिया, चलो हटो," हरी की माँ कहती है, "नहीं" मैं कहती हूँ, "ठीक-से कहो।"

"क्या हो रहा है, हरी की माँ?" अन्दर से मौसी की चिड़चिड़ी आवाज़ आती है, "चाय क्या अगले साल लाओगी?" हरी की माँ मोटी-मोटी भौंहों से मुझे बरजती है, "ये मंझली लली भीतर नहीं..." वह हँसती है तो उसकी मेंढक जैसी नाक फुदकती है- फुद्द-फुद्द। अन्दर माँ मेरा नाम लेकर कहती है कि "ज़रूर वही कलपा रही होगी उसे। मेरे प्राण खाने को जनमी है लड़की।" कोई कहता है, "ऐसी हालत में गुस्सा नहीं करना चाहिए।"

देर तक घर के बाहर बैठी हुई हवा में उड़ती गौरैयों को देखती मैं गौरैया क्यों न हुई। अच्छा, क्या माँ गौरैया भी चिड़ियों में लड़कियों को कम अच्छा मानती होगी?

"कहाँ गई?" भीतर से किसी की आवाज़ मुझे ढूँढ़ रही है। मैं जान-बूझकर दीवार की ओट में हो जाती हूँ कि मुझे कोई ढूँढ़ न पाए। कहीं। किसी भी तरह। कहीं से वो जादू की सुपारी मिल जाती जिसे मुँह में रखकर जब चाहो अलोप हो जाओ, तो मज़े ही मज़े।

***

रात को कहानी खत्म कर नानी कहती है कि "अब जाओ तुम सब सोने।" छोटी बहन सो गई है। उसे हरी की माँ गोद में भीतर ले जाती है। मैं नानी से पूछती हूँ, क्या मैं नानी के पास सो सकती हूँ। नानी का बदन गर्म और गुलगुला है। नानी की रज़ाई से इलायची-लौंग की बास आती है, नानी के तकिए के नीचे एक टॉर्च

रहती है, उसे लेकर बत्ती बुझाने के बाद भी बाथरूम जाओ तो अँधेरे में पैर के अँगूठे में ठोकर नहीं लगती। मामा के सोते लड़के को पास खींचकर रज़ाई उढ़ाती नानी कहती है, "ना भैया, एक तो ये मुझे छोड़कर नहीं जाता, फिर दो-दो को मैं कहाँ सुलाऊँगी। तू जा अपनी माँ के पास। कल फिर कहानी सुनाऊँगी।" नानी की आवाज़ खुशामद से चुधी-चुधी है, जैसा बरगलाते वक्त बड़े लोगों की हो जाती है। कमरे में बड़ी बहन बिना मेरी तरफ करवट लिए कहती है, "सुला लिया तुम्हें?" उसका स्वर गुस्से से काँप रहा है। घड़ी बोलती है 'टिक-टिक'। माँ की नाक बज रही है। "सुलाया तुम्हें?" "सुलाया तुम्हें?" टिक-टिक खर्र-खर्र।

***

"कहाँ हो री लड़कियों?" नानी हाथ में रोली की थाली लिए पीढ़े पर से पुकार रही हैं। नानी के सामने एक कढ़ाई में हलवा पड़ा है - थाली में ढेरों पूरियाँ। अष्टमी की सुबह है। नानी के आगे चटाई पड़ी है। "आओ, टीका लगवा लो।" नानी आरती में कपूर जलाती है, "आओ, आरती कर दूँ तुम्हारी।" मेरी दोनों बहनें और मामा की सुन्दर लड़कियाँ नानी के आगे फसकड़ा मारकर बैठ गई हैं। नानी उनको टीका-अक्षत लगाती हैं, घण्टी बजाती हैं रेल के गार्ड की तरह, फिर शंख, पूऽऽ। मैं इंजन बनकर आँगन

की मुण्डेर पर भागती हूँ। कमरे में बास है, आरती कपूर की बास; हलवे की, घी की बास; फूलों की बास। "दे दे पैसा, चल कलकत्ता पू-पू-पू।" "आजा बेटा, टीका करा ले, तू तो मेरी कन्याकुमारी है ना!" मैं कहती हूँ, "नहीं, मैं तो इंजन हूँ!" तभी डर मेरे पेट में मुट्ठी की तरह सख्त होता है। माँ मेरी ओर लड़खड़ाती-सी आ रही है।

क्रोध से उसका चेहरा भिंचा हुआ है, "मैं बनाती हूँ तुझे इंजन, अभी इसी दम।"

"पागल हो रही हो लली?" पड़ोसन नानी, माँ का हाथ पकड़कर मुझे आँखों

से कहना मानने को कहती है, "बच्चा है वो कन्याकुमारी ठैरी, आज अष्टमी हुई। देवी का दिन, आज के दिन कन्याकुमारी पर हाथ नहीं उठाना। सराप-पाप लगता है।" मैं धम्म-से मुण्डेर से नीचे कूदती हूँ, माँ रो रही है। नानी ने होंठ भींचकर लड़कियों को हलवा-पूरी परसना चालू कर दिया है।

"जा ना," चिड़चिड़ी मौसी कहती है, "क्यों अपनी माँ को रुलाती है ऐसे में?"

"जब तुम लोग लड़कियों को प्यार ही नहीं करते तो झूठ-मूठ में उनकी पूजा क्यों करत हो?" मेरी आवाज़ रुलाई से फटती है, गुस्से में मेरे मन में आता है कि आरती का जलता कपूर निगलकर अपने इस दगाबाज़ गले को दाग दूँ। "क्यों?" मैं फिर पूछना चाहती हूँ, पर रो पड़ने के डर से चुप हूँ। मैं रोना नहीं चाहती। इनके सामने, खासकर।

हरी की माँ ताज्जुब से पंजा गाल पर टिका कर कहती है, "माँ री माँ, सुनो तो इसकी बात। लड़की हो के ऐसा गुस्सा?"

नानी लड़कियों को सवा-सवा रुपया दे रही है। "सवा रुपए में बीस खट्टी गोलियाँ एक साथ ली जा सकती हैं। आने में एक।" इतना दीवार से कहकर नानी मेरी ओर भी रुपए के नोट में लिपटी चवन्नी बढ़ाती है। नानी के अँगूठे की नोक पर रोली का निशान खून के धब्बे जैसा लगता है।

मैं दीवार की ओर पीछे हटती हूँ। "मुझे नहीं चाहिए इन औरतों का हलवा-पूरी, टीका, रुपया।" "मैं देवी नहीं बनूँगी!" मैं चिल्लाती हूँ, इतनी ज़ोर-से कि आँगन में बाजरा चुगते कबूतर पर फटफटाकर उड़ जाते हैं। ज्यों कहीं गोली चली हो।

मृणाल पाण्डेः पद्मश्री सम्मानित मृणाल पाण्डे पत्रकार, लेखक और भारतीय टेलीविज़न की जानी-मानी हस्ती। सन् 2009 तक हिन्दी दैनिक *हिन्दुस्तान* की सम्पादक रहीं। साथ ही, *हिन्दुस्तान टाइम्स* के हिन्दी प्रकाशन समूह की सदस्य भी हैं। कई कहानियाँ, उपन्यास और लघु कथाएँ लिखी हैं।

सभी चित्रः शिवांगी सिंहः स्वतंत्र रूप से चित्रकारी करती हैं। कॉलेज ऑफ आर्ट, दिल्ली से चित्रकला, फाइन आर्ट्स में स्नातक। स्कूल ऑफ कल्चर एंड क्रिएटिव एक्सप्रेशन्स, अम्बेडकर यूनिवर्सिटी, दिल्ली से विज़्युअल आर्ट्स में स्नातकोत्तर की पढ़ाई की है। दिल्ली में निवास।